31 जुलाई, प्रेमचंद जयंती पर विशेष

प्रेमचंद की प्रासंगिकता

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि प्रेमचंद आज भी पूरी तरह से प्रासंगिक बने हुए हैं, यद्यपि समय-समय पर कुछ साहित्यकार उनकी प्रासंगिकता पर सवाल उठाते रहते हैं। ऐसे साहित्यकारों में वे भी हैं जो अपने आप को यथार्थवादी, प्रगतिशील एवं जनवादी परंपरा का वाहक भी बताते हैं। अब साहित्य में सिर्फ़ सामान्य यथार्थवाद ही नहीं, बल्कि जादुई यथार्थवाद का चलन शुरू हो गया है। यही नहीं, यथार्थवाद के नाम पर साहित्य में नारीवाद और उसके नाम पर ऐसा लेखन सर्वस्वीकृत होता चला जा रहा है जो अश्लील भी है। कुल मिला कर आज साहित्य में कुछ ऐसा नहीं दिखाई पड़ रहा है जो प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा को आगे बढ़ाने वाला हो।

प्रेमचंद के 'गोदान' की अगली कड़ी के रूप में नागार्जुन का 'बलचनमा' उपन्यास आया, पर उसकी अगली कड़ी के रूप में भारतीय ग्रामीण जीवन में आये परिवर्तनों को उल्लेखनीय रूप से पूरी संश्लिष्टता के साथ सामने रखने वाली कोई औपन्यासिक कृति सामने नहीं आई। वैसे उपन्यास तो कई लिखे गये। फनीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल,' 'परती परिकथा' जो आजादी के साथ भारत के ग्रामीण जीवन में आये परिवर्तनों को रेखांकित करने का काम करता है और जिसे आंचलिक उपन्यास कहा गया, पर उसके बाद ऐसी कोई कृति सामने नहीं आई जिसका ऐतिहासिक महत्त्व हो। यद्यपि आजादी के साथ ही देश-विभाजन और उसके साथ होने वाले भीषण सांप्रदायिक दंगों और पतनशील राजनीतिक प्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ साहित्य लिखा गया, पर आजादी के बाद ग्रामीण जीवन में आये मूलभूत परिवर्तनों को लेकर कोई उल्लेखनीय साहित्य सामने नहीं आया।

इस तरह प्रेमचंद की परंपरा का विकास अपने सहज-स्वाभाविक रूप में नहीं हो पाया। यह बात अलग है कि साहित्यिक मठाधीशों ने उन्हें ही अप्रासंगिक ठहराना शुरू कर दिया। प्रेमचंद का स्थान उन साहित्यकारों में है जिन्होंने हिंदी कथा साहित्य को तिलस्म और ऐयारी की दुनिया से निकाला। सिर्फ़ यही नहीं, उन्होंने कथा साहित्य को सामाजिक और आलोचनात्मक यथार्थवाद से जोड़ा। उन्होंने साहित्य में उन युगीन प्रश्नों को उभारा जो समाज की मुख्य चुनौती बने हुए थे। अंग्रेज़ों के औपनिवेशिक और सामंती शोषण ने देश की कृषक जनता के रक्त को चूस लिया था। दलितों और निम्न जातियों के शोषण का कोई पारावार नहीं था। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में उस यथार्थ को सामने लाया। गोदान के रूप में उन्होंने भारतीय किसान जीवन को समग्रता में सामने लाया और यह दिखाया कि अंग्रेज़ों और सामंतों के शोषण के परिणामस्वरूप एक सामान्य किसान कैसे अपनी 'मर्यादा' की रक्षा कर पाने में असफल हो गया था और उसकी अगली पीढ़ी किस तरह अपनी जड़ों से कट कर महानगरों की भीड़ में अपने अस्तित्व को बचाये रखने का संघर्ष कर रही थी, पर उसमें सफल नहीं हो पा रही थी। अपने दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'रंगभूमि' में उन्होंने औद्योगीकिकरण के साथ होने वाली किसान आबादी के विस्थापन के प्रश्न को उठाया। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि किस तरह सिगरेट का कारखाना बनाने के लिए जॉन परिवार सरकार एवं सामंती महाप्रभुओं के सहयोग से किसानों की जमीन का बलात् अधिग्रहण करना चाहता है और जिसके खिलाफ़ अंधा सूरदास अपने आखिरी दम तक अहिंसक प्रतिरोध चलाता है। हाल में नंदीग्राम और सिंगुर में जो कुछ हुआ, उस संदर्भ में यह उपन्यास आज भी पूरी तरह प्रासंगिक है। इसी तरह, अपने उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद ने किसानों के जीवन में आने वाली विडंबनाओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। ये तो चंद उदाहरण हैं, अपने समग्र लेखन में प्रेमचंद ने अपने युग के यथार्थ को उसकी संपूर्णता और संश्लिष्टता के साथ सामने रखा है। आधुनिक भारत के किसान जीवन के इतिहास को प्रेमचंद के साहित्य का अध्ययन किये बिना नहीं समझा जा सकता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद ने सिर्फ़ साहित्य का सृजन ही नहीं किया, वरन् अपने समय में चलने वाले सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों से भी अपने आप को सक्रिय रूप से जोड़े रखा। महात्मा गांधी ने जब असहयोग आंदोलन का नारा दिया तो उन्होंने अपनी बरसों पुरानी सरकारी नौकरी पर लात मार दी। इसे कोई मामूली कदम नहीं कहा जा सकता है। यह दिखलाता है कि औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति के उद्देश्य से वे कितनी गहराई के साथ जुड़े हुए थे।

उन्होंने आर्थिक सुरक्षा की कोई परवाह नहीं की और बनारस में सरस्वती प्रेस की स्थापना कर पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गये। उन्होंने मासिक 'हंस' और पाक्षिक 'जागरण' का प्रकाशन किया और अनेकों बार जमानत दे कर भी इनके प्रकाशन को जारी रखा। प्रकाशन के इस व्यवसाय में उन्हें निरंतर घाटे का सामना करना पड़ा और उनकी आर्थिक स्थिति बदहाल हो गई, फ़िर भी उन्होंने इन प्रकाशनों को जारी रखा।

यह अलग बात है कि हिंदी में नवजागरण की शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही शुरू की थी और साहित्य को आधुनिक चेतना से जोड़ा था, पर प्रेमचंद ने उसे चरम पर पहुंचाया। हिंदी में आधुनिक पत्रकारिता की शुरुआत भी भारतेंदु ने ही की थी, प्रेमचंद ने इस क्षेत्र में भी उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य था।

कुल मिल कर प्रेमचंद ने हिंदी साहित्य को विश्व साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया। उन्होंने युगीन प्रश्नों से साहित्य को जोड़ा, यह सबसे महत्त्व की बात है। उन्होंने अपने साहित्य में यथार्थवाद को उसकी ऊंचाइयों तक पहुंचाया। प्रेमचंद की रचनाओं में जो यथार्थ चित्रण है, उससे उसकी प्रासंगिकता कभी भी खत्म होने वाली नहीं। प्रेमचंद अपने समय के सबसे प्रगतिशील विचारों को अपनाने वाले साहित्यकार थे। यही कारण है कि जब 1936 में लखनऊ में मार्क्सवादी विचारधारा के लेखकों-शायरों ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की तो उन्होंने उसकी अध्यक्षता की। उस अवसर पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया, वह आधुनिक साहित्य का घोषणा-पत्र बन गया। लेकिन फ़िर भी उन्होंने कहा कि साहित्य राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है। वे साहित्यकार को स्वभावत: प्रगतिशील मानते थे। पर उनका मानना था कि साहित्य जीवन की आलोचना है। जाहिर है, साहित्य की जो परिभाषा उन्होंने दी, उसे कभी भी किसी भी हाल में बदला नहीं जा सकता।

प्रेमचंद का संपूर्ण जीवन संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। वे जैसा कहते थे, वैसा करने में भी यकीन रखते थे। यह उनके जीवन की कई घटनाओं से स्पष्ट है। वे देश के लिए एक ऐसी आज़ादी चाहते थे जिसमें समाज के सभी लोगों को विकास का समान अवसर मिल सके और शोषण पर आधारित व्यवस्था नष्ट हो सके। इसीलिए उन्होंने कहा था कि आज़ादी मिलने के बाद जॉन की जगह गोविंद के आ जाने से कोई बात नहीं बनेगी।

वे देश को औपनिवेशिक एवं सामंती शोषण से मुक्ति दिलाने का स्वप्न देख रहे थे। उनका स्वप्न आज भी पूरा नहीं हुआ है। आम जनता के शोषण की बुनियाद मजबूत ही हुई है। देश की बहुसंख्यक आबादी भूखी और दुखी है। वह शोषण के भार के तले छटपटा रही है। प्रेमचंद का सारा साहित्यिक संघर्ष और जीवन संघर्ष इनकी मुक्ति के लिए ही था। पर आज शोषण की दानवी ताकतें और भी मजबूत होती दिखाई पड़ रही हैं। प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य शोषण के खिलाफ़ संघर्ष की आवाज़ को उठाता है और संघर्ष के लिए हमें प्रेरित करता है। हमारे लिए यह जरूरी है कि हम बार-बार उनके साहित्य को पढ़ें और उससे निकलने वाले कार्यभार को तय करें। प्रेमचंद के शब्दों में अब भी हम जागें, 'क्योंकि अब और सोना मृत्यु का लक्षण होगा।'

– मनोज कुमार झा

भारतीय गणतंत्र : कुछ सवाल

प्रो. लालबहादुर वर्मा

भारत में एक ऐसे संसदीय जनतंत्र की नींव औपनिवेशिक स्थिति में पड़ी जो यहां की सामाजिक स्थिति और इतिहास के अनुकूल नहीं था। फिर भी तमाम ऊंच-नीच और सीमाओं के बावजूद यह कायम है और आज भारत दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र कहा जाता है। यह अपने में कम उपलब्धि नहीं है। परंतु सतह के नीचे हकीकत क्या है? इस जनतंत्र में मतदाता के अलावा किसी ने पूरी ईमानदारी नहीं दिखाई है।

सरकारें और पार्टियां सामान्य नागरिक के साथ छल-कपट करती रही हैं और पिछले साठ वर्षों में ऐसा राजनैतिक तंत्र विकसित किया गया है जिसे सारत: जन से कोई सरोकार नहीं है। सैद्धांतिक विवेचन से बेहतर होगा कुछ उदाहरण लेना। भारतीय संविधान के अनुसार अपना देश एक सेक्यूलर, समाजवादी, संघीय, जनतांत्रिक गणतंत्र है। सरसरी तौर पर भी देखें तो आज सभी संप्रदाय अपने को असुरक्षित बताते हैं तो फिर क्या हुआ सेक्यूलरिज्म का? देश में धड़ल्ले से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कायम हो रही है, फिर कैसा समाजवाद? संघ के सभी राज्य असंतुष्ट हैं फिर कैसा संघ? जनतंत्र की सबसे प्रातिनिधिक संस्था संसद में सबसे अजनतांत्रिक व्यवहार होता है। फिर भी जनतंत्र की दुहाई? और जब सभी पार्टियां परिवारवाद की शिकार हों तो कैसा गणतंत्र? अर्थात देश की राजनीति अपने संवैधानिक नाम के प्रति भी ईमानदार नहीं है।

और समाजशास्त्र क्या कहता है? इस देश का सबसे घातक रोग रहा है जाति व्यवस्था। और उसे खुले बेहयायी के साथ, योजना और षड्यंत्र के साथ जिस तरह स्वतंत्र भारत में पार्टियों द्वारा पोसा जा रहा है, वैसा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। आज भारतीय समाज जितना विभाजित है, उतना पहले कभी नहीं रहा।

बकौल गांधी जी, समाज के सबसे निचली पायदान के विपदा के मारों के आंसू पोछने के लिए है या नहीं। और स्वयं सरकार के आंकड़े बताते हैं कि विषमता बढ़ती जा रही है। संतुलित भोजन को कौन कहे, राशन की दुकान से मिलने वाला सड़ा भोजन भी करोड़ों को मयस्सर नहीं। दूसरी ओर, दुनिया के खरबपतियों में भारतीयों की बढ़ती संख्या से गौरवान्वित होने की अश्लील मानसिकता बनाई जा रही है। कहीं से यह सवाल नहीं उठाया जा रहा है कि जो अर्थव्यवस्था खरबपति बनने के अवसर प्रदान कर रही है, वह भूखों को दो जून रोटी कमाने का अवसर क्यों नहीं दे पा रही?

इस विज्ञान के युग में भारतीय समाज जिस तरह भाग्यवाद, संकीर्ण मानसिकता, अपने-अपने स्वार्थ, तात्कालिक लाभ और आदर्शहीनता का शिकार है और समाज का बौद्धिक समुदाय, शासक लोग और मार्गदर्शक संस्थायें इस स्थिति के प्रति उदासीन और तटस्थ मन निष्क्रिय हैं, उन्हें इस स्थिति को बदतर बनाने और उससे लाभ उठाने में लगे हैं, वह ख़तरे की घंटी है। पर उसे या तो सुना नहीं जा रहा या सुन कर अनसुनी कर देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। आज विज्ञान-टैक्नोलॉजी और विवेक ने मनुष्य को इतना सशक्त कर दिया है कि उसके सही इस्तेमाल से विषमता और अन्याय को समाज से पूरी तरह खत्म किया जा सकता है। पर अगर वे कम होने के बजाय बढ़ रहे हैं तो निश्चित ही इसका एकमात्र कारण है कि कुछ लोग अपने स्वभाव और स्वार्थ के कारण ऐसा नहीं होने दे रहे। अर्थशास्त्र सारी पोल खोल दे रहा है। स्वतंत्र भारत में असाधारण विकास हुआ है। पर मुगल राज से तुलना करें तो ब्रिटिश राज में क्या कम विकास हुआ था? विकास का केंद्रीय और निर्णायक मुद्दा है किसके लिए विकास?

बकौल गांधी जी, समाज के सबसे निचली पायदान के विपदा के मारों के आंसू पोछने के लिए है या नहीं। और स्वयं सरकार के आंकड़े बताते हैं कि विषमता बढ़ती जा रही है। संतुलित भोजन को कौन कहे, राशन की दुकान से मिलने वाला सड़ा भोजन भी करोड़ों को मयस्सर नहीं। दूसरी ओर, दुनिया के खरबपतियों में भारतीयों की बढ़ती संख्या से गौरवान्वित होने की अश्लील मानसिकता बनाई जा रही है। कहीं से यह सवाल नहीं उठाया जा रहा है कि जो अर्थव्यवस्था खरबपति बनने के अवसर प्रदान कर रही है, वह भूखों को दो जून रोटी कमाने का अवसर क्यों नहीं दे पा रही?